

## समकालीन साहित्य के समक्ष चुनौतियाँ

नीरजा सिंह

शोधार्थी, हिंदी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, राजस्थान, भारत।

### प्रस्तावना

समकालीन रचनाकार एक ऐसे वातावरण में जी रहा है जहाँ यथार्थ को समग्र रूप में देखने के बजाय टुकड़ों में देखने का प्रचलन है, युगों तक हाशिए पर रहने के लिए विविध विविध समुदाय आज अपनी अस्मिता को रेखांकित कर रहे हैं जिससे विविध विमर्श सामने आए हैं। इस संदर्भ में डॉ० प्रतिभा मुदलियार (मैसूर) ने कहा कि 'समकालीन हिन्दी कविता में मानवाधिकारों से वंचित वर्ग ने अपनी अस्मिता कायम करने के लिए अभिव्यक्ति का शस्त्र अपनाया। हिन्दी दलित विमर्श ने एक मुकाम हासिल की है। निर्मला पुतुल, ओमप्रकाश वाल्मीकि, तुलसीराम आदि साहित्यकार अपनी रचनाओं के माध्यम से भोगे हुए यथार्थ को अभिव्यक्त किया है। उनकी रचनाओं में उनकी वैचारिकता को रेखांकित किया जा सकता है। ये रचनाएँ अस्तित्व की लड़ाई की रचनाएँ हैं, विद्रोह और संघर्ष की रचनाएँ हैं। इनमें पीड़ा का रस है। घृणा के स्थान पर प्रेम को स्थापित करने की मुहिम है।'

नैतिकता की व्याख्या अब आस्था पर आधारित न होकर परिवर्तित बोध के आधार पर की जाने लगी है। नैतिक मान्यताओं की व्याख्या में अब दूसरे ही कोण से करने लगी हैं। अब मेरी निगाह में वह व्यक्ति बुरा नहीं है जो पर-पुरुष या परस्त्रीगामी है, सिगार या शराब पीता है। अभक्ष्य नामधारी पदार्थों का सेवन करता है। घृणा अवमानना मेरे मन में अब उस व्यक्ति के प्रति उभरती है जो वचन देकर भी उसके निर्वाह में कोताही करता है, धार्मिकता का स्वांग रचकर भीतर प्रकोष्ठों में रंगरेलियाँ रचाता है तो अपने दायित्व और कार्य के प्रति ईमानदार नहीं रह पाता, केवल बात करता है सिर्फ बात (शशिप्रभा शास्त्री)। वैज्ञानिक युग में प्राचीन नैतिक मूल्यों की रूढ़ को स्वीकारते चले जाने की प्रवृत्ति का विरोध करते हुए मन्नु भण्डारी भी कहती हैं। 'ईश्वर और धर्म के रूढ़बद्ध रूप का पालन करके तो हम तिलक लगाकर जिन्दगी भर माला ही जपते रह जायेंगे। जीवन के वृहत्तर मूल्यों के लिए अपनी सार्थकता के लिए विवेक, मानवीय संवेदना और सह अनुभूति की आवश्यकता होती है, ईश्वर की नहीं।' परम्परित भारतीय आदर्शों और आज के जीवन में मिसफिट उस आचारशीलता पर प्रश्नचिह्न खड़े करता यह कथाकार सोचता है कि 'हिन्दू आदर्श और आज के भारतीय जीवन की दोहरी भाषा में बोलने समझने का ढोंग आप कितने दिनों तक चलाए रखना चाहते हैं।' (मन्नु भण्डारी)। जिस आस्था और आध्यात्मिक चिंतन पर भारतीय अवधारणाएँ आश्रित थीं उसके विपरीत ये कथाकार ईश्वर की अपेक्षा जीवन के वृहत्तर मूल्यों के लिए अपनी सार्थकता के लिए विवेक, मानवीय संवेदना और सह-अनुभूति को अधिक आवश्यक मानते हैं। ये लोग इस धारणा को पाले हुए हैं कि आज का भारतवासी ईश्वर को नहीं ईश्वर की रूढ़ से प्यार करता है। ये कथाकार विवाह के लिए प्रेम को जरूरी नहीं मानते हैं। दाम्पत्य सम्बन्धों के बिखराव की दशा में तनावपूर्ण जीवन जीते चले जाने की अपेक्षा तलाक का समर्थन करते हैं। भ्रष्ट सामाजिक व्यवस्था के बीच से नई राह खोजने के प्रयासों की जगह वर्तमान के प्रति अंसतोष का भाव इनमें अधिक है। राष्ट्रीयता के संदर्भ में बड़बोलापन और दिखावटी नारों से इन्हें सख्त नफरत है।

जैसे 'विदेशों के उदाहरण मत दीजिए बहुत बेमानी लगते हैं। अपने देश की बात कीजिए। है यहाँ कोई बुद्धिजीवी, जो किसी ठोस चीज का संचालन कर है।' अलबत्ता सुझाव हर मिनट एक की रफ्तार से दे रहा है' (उसके हिस्से की धूप)। आजादी को लेकर मोहभंग का भाव प्रबल है तब मुझे पता नहीं था कि जिस आजादी को लेकर मैं इतना आनन्दित हूँ—वही आजादी मेरे लिए उम्र कैद का परवाना है। मेरे सुख, मेरे सपने, मेरी कामनाएँ कैद हो गई हैं। हमेशा—हमेशा के लिए। मेरे हाथ—पाँव सब बँधे हैं। असहाय—सा पड़ा हूँ। प्रजातंत्र में न्यूसेन्स वैल्यू को ही बढ़ा हुआ पाते हैं। नेताओं के अवसरवादिता से इन्हें गहरी चिढ़ है। 'मंत्री बनने का शौक फरमाने के लिए अवसरवादियों की कतार बहुत लम्बी है।' राजनीति का अर्थ मेंढकों की वह घसर-पसर है जो सिर्फ कूपमण्डकों के कुएँ में ही चलती है। परम्परा से हिन्दू समाज की इकाई व्यक्ति न होकर संयुक्त परिवार है लेकिन आज के कथाकार संयुक्त परिवारों को ज्वालामुखी के गर्भ में स्थित महसूस करते हैं। विवेकानन्द की इस मान्यता को इनके धार्मिक चिन्तन का आधार माना जा सकता है कि 'जिस धर्म की जड़े प्रथा और रूढ़ में होती है वह 'दुकानदारी धर्म' हो जाता है। जिसमें ईश्वर साध्य नहीं साधन रह जाता है। ये लोग मानते हैं कि 'हमें धर्म की तंग दुनिया को छोड़कर खुले मैदान में आना चाहिए। धर्म केवल हमारी मेज तक सीमित रहना चाहिए। सच पूछो तो उसकी भी जरूरत नहीं। नेताओं और भाषणों से इन्हें चिढ़ है।' इस राष्ट्र ने उन्हें दिया क्या है एक कुत्ता नौकरी, एक आधा अंधेरा घर, खटाऊ की चार छपी धोतियाँ, लोकलों के धक्के।' व्यवस्था द्रोह का भाव अत्यन्त प्रबल है समूची व्यवस्था के प्रति मोर्चाबंदी करना जरूरी समझते हैं। अपने आर्थिक दशा को लेकर गहरी खीझ है मेरा वतन इतना नहीं कि मैं कभी-कभार चार दोस्तों को बुलाकर उन्हें अच्छी शराब पिला सकूँ या एक नौकर रख सकूँ। जिससे कम से कम मुझे दूध के लिए खड़ा न होना पड़े। सेक्स के सम्बन्ध में उन्मुक्तता को अधिक पसन्द करते हैं उनके लिए उन्मुक्त यौनाचार, श्लीलता—अश्लीलता की बहसें सर्वथा बेमानी हो गई हैं। सामयिक कथाकारों की यह चिंतन दृष्टि आज के कथा साहित्य में ही रूपाकार ग्रहण करते हुए समक्ष उपस्थित हुई है। यद्यपि समय की निरन्तर प्रवाहमान गतिशीलता को खण्डों में विभाजित करने की चेष्टा करना उसकी निरवधि प्रवाहशीलता में अनावश्यक हस्तक्षेप करने जैसा प्रयास होता है फिर भी इस तरह से की जाने वाली चेष्टाओं के खतरे को जानते हुए भी हमें उसे विभाजित कर देखना जरूरी हो जाता है। इस दृष्टि से समकालीनता से अभिप्राय हमारे लिए तत्कालीनता से भिन्न आज का सहवर्ती स्वीकारा जा सकता है। जो कुछ भी प्रत्यासन्न है, प्रत्यक्ष है, वर्तमान है उसकी सार्थक किन्तु जीवंत प्रतीति करवा देने वाला समय बोध समकालीन के अन्तर्गत समेटा जा सकता है। निःसन्देह आजादी के बाद के प्रथम दशक से इसका सभारम्भ स्वीकार जा सकता है। सातवें दशक तक आते-आते उन समस्त स्थितियों का विपर्यास शुरू हो चुका था जो नवलेखन की उत्प्रेरक और रचना प्रेरणाएँ रही थीं। सातवें दशक आते-आते मंहगाई, बेकारी, जनसंख्या विस्फोट के साथ-साथ विपन्न सामाजिक दशाओं में समस्याक्रान्त व्यक्ति की

कुण्ठाएँ कथा साहित्य में प्रबलतम रूप में प्रकट की जाने लगी। मोहभंग का भाव अधिक प्रबल हुआ और कथा रचनाओं का स्वर विद्रोह, घुटन, टूटन, उत्पीडन, असंतोष, पीढ़गत अन्तराल और मृत मूल्यों की निरर्थकता को चित्रित किया जाने लगा। लेखक भोगे हुए यथार्थ को प्रामाणिक और अधिकारिक अभिव्यक्ति देने के लिए समष्टिगत भावनाओं को छोड़कर व्यक्ति की ओर उन्मुख हुए। यों व्यक्तिवादी मान्यताओं के परिपार्श्व में सामाजिकता का निरूपण किया गया। व्यक्ति की खिड़की से समाज को देखने की चेष्टाएँ की गईं। कहानी के रचाव की दृष्टि से 1950 के आसपास जिस सामाजिक बोध को लेकर नवलेखन के दौर में 'नयी कहानी' का जो आन्दोलन हिन्दी साहित्य में उभरा था वह 1960 तक आते-आते वैयक्तिक कुण्ठा और संत्रास के इर्द-गिर्द ही घूमकर रह गया। उसमें एक खास किस्म का 'मैनरिज्म' पैदा हो गया। (डॉ. विनय) नयी कहानी में जिस नये कथ्य और शिल्प की बात नये कोण से उठाई गई थी, वही आगे चलकर झूठी पड़ गई तथा कथा रूढ़ियाँ बनती गयीं। (डॉ. नरेन्द्र मोहन) इस तरह की व्यक्तिवादिता और रूग्णशीलता के विरुद्ध सचेतन कहानी आंदोलन सामने आया किन्तु जर्मनी के 'एक्टिविस्ट मूवमेन्ट' का यह भारतीय संस्कार भी दीर्घकाल व्यापी नहीं बना रह सका। ऐसी कथा रचनाओं में ढूँढता हुआ जीवन, मनोविश्लेषण के नाम पर सिर्फ अपने में डुबकी लगाये रहना, यौन कुण्ठाओं को कथा का रूप दे देने का विफल प्रयास ही सिद्ध हुआ।

आठवें दशक के आते-आते सामाजिक जीवन और भी अधिक संश्लिष्ट हुआ। स्थितियाँ और भी अधिक जटिलता को प्राप्त हुईं। समस्याएँ और अधिक गहराई, जीवन की असंगतियाँ, विडम्बनाएँ, निरर्थकताएँ, अन्तर्विरोध, निराशा, पराजय अब कथा साहित्य के सर्वाधिक पसंदीदा विषय बन गए। इन्हें तल्खी, उग्रता, आवेश तथा व्यंग्य के साथ कथानकों में प्रस्तुत किया जाने लगा। इन नूतन कथा विषयों के लिए अभिनव शिल्प के संधान के प्रयास भी किए गए जिसके कारण एक्सड प्रतीकात्मक, फैंटेसी, व्यंग्य, कथाहीन रचनाएँ आदि नवीन शिल्प संरचनात्मक पहलू समक्ष उपस्थित हुए। कथा आंदोलनों की दृष्टि से 1970 तक आते-आते 'अकहानी', 'सचेतन कहानियाँ' शहर की घुटन में जीते लेखक की कहानियाँ कही जा सकती हैं। नायक सिगरेट पीते हुए, हर बात पर ऊब और एक-दूसरे को या किसी लड़की को गालियाँ देते हुए युवक। समस्याएँ विरोध नहीं सिर्फ दुनिया से गुस्सा। तब कथा जगत् में 'समान्तर-1 के माध्यम से' 'समान्तर कहानी' आंदोलन सामने आया। समान्तर कहानी में 'आम आदमी' को कथानायक बनाए जाने का प्रयास किया गया। यह दूसरी बात है कि एक आकर्षक संज्ञा के अभिधान से परे यह 'आम आदमी' न तो पूरी तरह से स्पष्ट किया जा सका न परिभाषाबद्ध ही। ये कथा रचनाएँ विषमतामूलक समाज की कहानियाँ थीं। जिन्दगी को ऊँचाई या निचाई से न देखकर समान्तर देखने का प्रयास किया करती थीं।

पिछले डेढ़ सौ-दो सौ वर्षों में हमारे परिवेश और चिंतन में बड़े बदलाव आए हैं। वैज्ञानिक क्रान्ति के साथ आधुनिकता की आहटें सुनाई देने से लेकर उत्तरआधुनिकता और उससे जुड़े विमर्शों तक की इस यात्रा ने हमें आज जिस मुकाम पर ला खड़ा किया है वहाँ हम सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक मोर्चों पर नई-नई चुनौतियों का सामना कर रहे हैं। राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखें तो भी सब और काफी धुंधलका बरसता दिखाई देता है। इस धुंधलके में रचनाकार को अपनी राह तलाशने की बड़ी चुनौती का सामना है। समकाल की वे चुनौतियाँ उन स्थायी चुनौतियों के अतिरिक्त हैं जिनका सामना वस्तु, विचार, अभिव्यक्ति और शिल्प की खोज के स्तर पर किसी भी रचनाकार को करना होता है।

इन चुनौतियों से जुड़े विविध पहलुओं पर विचार करने के लिए गत

30-31 अक्टूबर 2014 को कर्नाटक विश्वविद्यालय (धारवाड़), अयोध्या शोध संस्थान (अयोध्या) और साहित्यिक सांस्कृतिक शोध संस्था (उल्हासनगर) के संयुक्त तत्वाधान में धारवाड़ में 'समकालीन हिन्दी साहित्य की चुनौतियाँ' विषयक द्विदिवसीय अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। उद्घाटन सत्र की मुख्य अतिथि अमेरिका से पधारी देवीनागरानी थीं। विशिष्ट अतिथियों में डॉ. विनय कुमार (हिन्दी विभागाध्यक्ष, गया कालेज), डॉ. योगेन्द्र प्रताप सिंह (निदेशक, अयोध्या शोध संस्थान, अयोध्या), डॉ. प्रदीप कुमार सिंह (सचिव, साहित्यिक सांस्कृतिक शोध संस्था, उल्हासनगर), डॉ. राम आह्लाद चौधरी (पूर्व अध्यक्ष हिन्दी विभाग, गया कोलकाता), डॉ. प्रभा भट्ट (अध्यक्ष हिन्दी विभाग, कर्नाटक विश्वविद्यालय), डॉ. एस. के. पावर (कर्नाटक विश्वविद्यालय) और डॉ. बी.एम. मद्री (कर्नाटक विश्वविद्यालय) शामिल थे।

उद्घाटन भाषण में देवी नागरानी ने कहा कि उन्हें भारत और अमेरिका में कोई विशेष अंतर नहीं दिखता क्योंकि जब कोई भारत से विदेश में जाते हैं तो वे सभ्यता, संस्कृति और संस्कार को भी अपने साँसों में बसाकर ले जाते हैं। एक हिन्दुस्तानी जहाँ-जहाँ खड़ा होता है वहाँ-वहाँ एक छोटा सा हिन्दुस्तान बसता है। उन्होंने भाषा और संस्कृति के बीच निहित संबंध को रेखांकित करते हुए कहा कि विदेशों में तो 'हाय, बाय और सी यू लेटर' की संस्कृति है जबकि हमारे भारत में विनम्रता से अभिवादन करने का रिवाज है। लेकिन आजकल यहाँ कुछ तथाकथित लोग विदेशी संस्कृति को अपनाकर हमारी संस्कृति की उपेक्षा कर रहे हैं जबकि विदेशों में बसे प्रवासी भारतीय अपनी भाषा और संस्कृति को बचाए रखने के लिए पुरजोर कोशिश कर रहे हैं। विश्वा (सं रमेश जोशी), सौरभ (सं अखिल मिश्रा), अनुभूति एवं अभिव्यक्ति (सं पूर्णिमा वर्मन) आदि अंतर्राष्ट्रीय पत्रिकाएँ अंतर्जाल के माध्यम से हिन्दी भाषा, साहित्य और संस्कृति को बचाए रखने में महती भूमिका निभा रही है। उन्होंने सबसे अपील की कि 'हमें अपनी भाषा को, अपनी सभ्यता एवं संस्कृति को बचाए रखने के लिए कदम उठाना चाहिए चूँकि भाषा ही हमें विरासत में प्राप्त हुई है अतः इसे सींचना और संजोना हमारा कर्तव्य है।

साहित्य को अंधेरा चीरने वाला प्रकाश बताते हुए डॉ. राम अह्लाद चौधरी ने कहा कि 'आज प्रतिकूल परिस्थितियों को अनुकूल बनाने की चुनौती साहित्यकारों के समक्ष है। भारतीय साहित्य में इतिहास, दर्शन और परम्परा का संगम होता है। लेकिन आज के साहित्य में यह संगम सिकुड़ता जा रहा है। समकालीन साहित्य के सामने एक और खतरा है अभिव्यक्ति का खतरा। गंभीरता और जिम्मेदारी पर आज प्रश्न-चिह्न लग रहा है क्योंकि सही मायने में साहित्य के अंतर्गत लोकतंत्र का विस्तार नहीं हो रहा है। हाशियाकृत समाजों को केन्द्र में लाना भी आज के साहित्य के समक्ष चुनौती का कार्य है। आलोचना के अंतर्गत भी गुटबाजी चल रही है। आलोचना पद्धति के मानदंड को बदलना आवश्यक है। साहित्य का कारपोरेटीकरण हो रहा है। सौन्दर्य और प्रेम साहित्य के बुनियाद है। साहित्य को प्रवृत्तिमूलक दृष्टिकोण से देखना अनुचित है। जब तक उसके स्रोत तक नहीं पहुँचेंगे तब तक सिर्फ प्रवृत्ति के आगे चक्कर लगाते ही रहेंगे। साहित्य हाथ छुड़ाने का काम नहीं बल्कि हाथ थामने का काम करता है। एक दूसरे को जोड़ने का काम करता है।'

डॉ. ऋषभदेव शर्मा (हैदराबाद) ने कहा कि समकालीन कविता की चुनौतियों को यदि समझना हो तो पंकज राग की कविता 'यह भूमण्डल की रात है' को देखा जा सकता है क्योंकि भूमंडलीकरण/भूमंडीकरण आज की सबसे बड़ी चुनौती है। उन्होंने कहा कि 'कविता के समक्ष कुछ शाश्वत चुनौतियाँ हैं- विषय चयन से लेकर भाषा, पठनीयता और संप्रेषण तक, कविता का धर्म मनुष्यता को बचाना है। व्यक्ति को जागरूक बनाना है। कवि को

अपने समय से दो चार होते हुए चुनौतियों का सामना करना पड़ रहा है। कविता को लोकमंगल, लोकरक्षण की भूमिका निभाने के लिए नए पैतरों को अपनाना होगा।' उन्होंने इस बात को रेखांकित किया कि 'आज के समय में पठनीयता की समस्या अर्थात् संप्रेषण की समस्या है। यदि कवि लोक से जुड़ने की अपेक्षा लोकप्रियता से जुड़ जाय तो कविता में गंभीरता की क्षति होती है। समाज को टुकड़ों में बांटने वाली कविता नहीं चाहिए जबकि जोड़ने वाली कविता चाहिए। उपदेशों तथा निबन्धों का अनुवाद कविता में नहीं करना चाहिए। जीवन की सच्ची अनुभूति की अभिव्यक्ति सरल शब्दों में होना नितान्त आवश्यक है।'

साहित्य की पठनीयता के संकट की चर्चा करते हुए डॉ. गुर्रमकोंडा नीरजा (हैदराबाद) ने कहा कि मुख्य चुनौती संप्रेषणीयता की चुनौती है। अर्थात् काव्यभाषा की समस्या, जनभाषा का स्तर एक है तथा कविता की भाषा का स्तर एक प्रायः यह माना जाता है कि साहित्यकार बनना हर किसी के लिए साध्य नहीं है, जिस तरह साहित्यकार को शब्द और भाषिक युक्तियों का चयन सतर्क होकर करना चाहिए उसी प्रकार कविता में भी शब्दों का सार्थक और सतर्क प्रयोग वांछित है। कवि को इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसे किस शब्दावली और भाषा का चयन करना होगा।

साहित्य को जीवन प्रतिक्रिया मानते हुए डॉ. श्रीराम परिहार (खंडवा) ने कहा कि जीवन की जो भी चुनौतियाँ होंगी वे सभी कविता की चुनौतियाँ होंगी। जयशंकर प्रसाद ने भी कहा था कि काव्य जीवन की संकल्पनात्मक अभिव्यक्ति है। श्रीराम परिहार ने इस बात को रेखांकित किया कि भारत और विदेश में मूलभूत अंतर है। विदेश में संस्कृति, धर्म और दर्शन जीवन के हिस्से हैं। लेकिन भारत में धर्म व्यापक है। संस्कृति, समाज और दर्शन सभी धर्म के हिस्से हैं। जीवन में जो आचरण होता है वह कहीं न कहीं धर्म से जुड़ा हुआ होता है। अतः भारतीय साहित्य और कविता को इस दृष्टि से समझना अनिवार्य है।' उन्होंने यह पीड़ा व्यक्त की कि हम ऐसे आलोचक पैदा नहीं कर पा रहे हैं जो साहित्य के सभी विधाओं को बराबर आदर दे सकें। उन्होंने इस बात को उदाहरणों से पुष्ट करते हुए कहा कि हमारे आलोचक एक रचना को सिर्फ एकांगी दृष्टि से आंकते रहते हैं। उसको समग्रता में नहीं देखते। बैंको का राष्ट्रीयकरण, डंकल, पेटेन्ट आदि ने समाज में नवउदारवादी नीति को आगे बढ़ाया जिसके फलस्वरूप भूमंडलीकरण और बाजारवाद का प्रभाव बढ़ता गया। तीन 'एम'—माइण्ड, मनी, और मसल। पूरी तरह से सभी क्षेत्रों में हावी हो गए। साहित्य भी इनके प्रभाव से अछूता नहीं रहा। उन्होंने यह अपील की कि साहित्य को एकांगी दृष्टि से न देखें। उसको समग्रता में देखें और समझें।

### सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मधुरेश— हिन्दी कहानी का विकास, पृ.176
2. भाटिया, डॉ. अशोक—समकालीन हिन्दी कहानी का इतिहास, पृ. 12
3. यादव, राजेन्द्र— संकल्प कथा दशक, भूमिका से
4. सिंह, पुष्पपाल— समकालीन हिन्दी कहानी, पृ.32